

भारतीय सांस्कृतिक एकात्मता के सेतु पुरुष : श्रीमंत शंकरदेव

विभव भूषण त्रिपाठी

भारतीय संस्कृति एक प्रवाहमय पावन धारा है। यह प्रवाह अनवरत् है, पहले भी था आज भी है और भविष्य में भी बना रहेगा। यह सरिता जिस एक पर्वत से फूटती है, वह पर्वत भारतीय भाव-बोध का हिमालय है। उस पर्वत का हिम हमारी सूक्ष्म एकात्मता का स्थूल रूप है। कई बार समय का पहिया ऐसा घूमता है कि ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से हम स्रोतस्विनी के दूसरे छोर से अनभिज्ञ से हो जाते हैं या कर दिए जाते हैं। ऐसा ही कुछ पूर्वोत्तर और शेष भारत के साथ भी हुआ। कुछ कारण तो परिस्थिति जन्य थे किंतु कुछ कारण कुटिल लोगों की कुचाल भर किन्तु धन्य है भारत और भारतीय बोध की उर्वरता, इस भूमि पर सौ दुराग्रहियों के बरक्स एक विराट चेतना युक्त योद्धा खड़ा होता रहता है। एक योद्धा जो "समन्वय की विराट चेतना लेकर आता है।"¹ और आने वाले युग को बता जाता है कि हम एक हैं, हमारी संस्कृति एक है। ऐसी समन्वयवादी चेतना हम तुलसीदास में देखते हैं लेकिन उस काल में ही दूसरी तरफ शंकरदेव भी हैं जो समग्र भारत को अपने अवबोध में पिरोकर अभिव्यक्त करते हैं।

आज जब कोई अध्येता भारत के पूर्वोत्तर भाग की ओर देखता है तो उसे श्रीमंत शंकरदेव के विस्तृत कैनवास को देखना ही होता है। यूँ कहें कि शंकरदेव ही भारत और पूर्वोत्तर भारत के बीच वह सेतु हैं जो हमारी सांस्कृतिक एकात्मता की बारीक बुनावट सम्भाले हुए हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन उसके देश-काल सापेक्ष ही होना चाहिए, क्योंकि उसकी रचना का अधिकांश तत्कालीन समाज का वस्तुगत यथार्थ होता है। यदि रचना में यथार्थ नहीं है तो फिर किसी रचनाकार का रचनाकार होना ही संदिग्ध होता है, तब मूल्यांकन कैसा? जिस रचनाकार की रचना में समाज जितना अधिक आत्मसाक्षात्कार करता है वह रचनाकार उतना ही कालजयी होता है। आज यदि हिंदी भाषा, साहित्य के शोधार्थी भी असम के एक साहित्यकार पर अध्ययन कर रहे हैं तो निश्चय ही उस साहित्यकार में और उसके साहित्य में समाज का यथार्थ झाँकता है, अपितु यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि यथार्थ की लौ जगमग करती है। जिस लौ के प्रकाश से आज भी असम का समाज आलोकित होता है। लगभग एक ही काल-अवधि में देश के दो हिस्सों में दो विराट व्यक्तित्व हैं। यह कोई सामान्य घटना नहीं है बल्कि यह हमारे साहित्य जगत की बड़ी उपलब्धि है। एक तरफ असम का वन-प्रान्त शंकरदेव की परिवर्तनकारी वर्षा बूंदों से उर्वर हो रहा है तो दूसरी तरफ तुलसीदास की भक्ति-मंदाकिनी भारत के मध्यक्षेत्र को पावन कर रही है। इन दोनों की रचनाओं पर बात करना तो एक आलेख की सीमा का अतिक्रमण होगा। केवल इनके विराट व्यक्तित्व को उस सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में बहुत ही सन्तुलित रूप से देखा जा सकता है।

उद्देश्य यहाँ तुलना का नहीं है बल्कि समानांतर दो क्षेत्रों की वस्तु-स्थिति को अभिव्यक्त करना है। दूसरी बात यह है कि शंकरदेव की लकीर के बरक्स दूसरी लकीर तुलसीदास की ही हो सकती है। दोनों के अवबोध निर्माण की परिस्थितियाँ भी समान हैं। 'शंकरदेव दूसरे हैं'² तो तुलसीदास भी 'मात-पिता जग जाई तज्यो'³ के दंश से द्रवित हैं। प्रकृति ने सम्वेदना को प्रबल करने हेतु कैसा निष्ठुर माध्यम खोज निकाला है। दोनों ही जीवन की कटुता का गरल चखते हैं, जिम्मेदारी से भागते नहीं जूझते हैं। आप कहेंगे कि तुलसीदास तो पत्नी को छोड़कर सन्यासी हो जाते हैं, किंतु यह उनका चुनाव नहीं था। पत्नी उन्हें विवश करती है और उनका मोहभंग होता है। शंकरदेव बालपन से ही वैरागी स्वभाव के हैं किंतु वह भी सब कुछ छोड़कर सन्यास कर्म नहीं अपनाते बल्कि कर्म सन्यास का वह मार्ग चुनते हैं जो योगेश्वर कृष्ण द्वारा गीता में बताया गया है। तुलसीदास को जहाँ मूड़ मुड़ाकर सन्यासी होने पर आपत्ति है वहीं शंकरदेव भी अपने दायित्वों से मुक्त होकर ही सन्यास के मार्ग पर आते हैं। दोनों की दृष्टि में ब्रह्म और माया का महत्व है। दार्शनिक स्तर पर भी दोनों में भौगोलिक दूरी बाधा नहीं बनती। अपने अपने आराध्यों को लेकर भी दोनों में कोई कट्टरता नहीं है। तुलसीदास को राम प्रिय हैं किंतु उन्हें कृष्ण से परहेज नहीं है तो शंकरदेव भी कृष्णकथा के समान रामकथा को महत्व देते हैं उसे अछूता नहीं रखते। ऐसी और भी बातें हैं जो किसी भी हिंदी सेवी के मन में शंकरदेव की अलख जगाने का सामर्थ्य रखती हैं। इन बातों पर और गंभीरता व विस्तार से विचार की आवश्यकता है। इस आलेख में केवल इशारा भर है, जो केवल उन बिंदुओं की ओर ध्यान खींचना चाहता है जो कारण अध्येताओं को विचार-विमर्श से रोकते रहे हैं? आखिर क्यों भारत के अधिकांश भाग को पूर्वोत्तर से अनभिज्ञ रखा गया? वह कौन से कारक थे जिन्होंने अभेद्य सांस्कृतिक किले में संध लगाई ? यह बातें कोई प्रलाप नहीं हैं बल्कि शंकरदेव के महत्व को समझने का आवश्यक अवयव हैं। इन्हीं धारों को सुलझाकर एक रचनाकार और उसके समय, समाज व संस्कृति को भारतीय संदर्भ में देखा जा सकता है। साहित्य के संदर्भ में यह तथ्य और भी महत्वपूर्ण है। मुक्तिबोध कहते हैं। "किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक धरातल पर आत्म-प्रकटीकरण किया है।"⁴ वह गतिमान सामाजिक शक्तियाँ क्या थीं और क्या हैं यही समझना वर्तमान की मांग है। हमारे वामपंथी विद्वानों को मध्यकाल में केवल मुगल साम्राज्य का स्वर्णयुग ही दिखता है जिसे वह समग्र भारत का स्वर्णयुग बताकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। उन्हें और कुछ दिखता भी है तो केवल नाम भर की किसान समस्या वह भी जो 'कर' से सम्बंधित है। मध्यकाल में समूचे भारत में जो अस्थिरता और अराजकता है उस पर इनकी निगाह नहीं जाती या किसी एजेंडे के तहत उन पर बात नहीं होती यह दीगर बात है। श्रीमंत शंकरदेव के समय में असम की क्या राजनैतिक व सामाजिक स्थिति है इस पर मुख्यधारा के इतिहासकार कदाचित्त विचार नहीं करते। लेकिन आज जब पूर्वोत्तर विमर्श के केंद्र की ओर सरक रहा है तो ज्ञात होता है कि शेष भारत की तरह असम में भी स्थितियाँ सामान्य नहीं रही। भूपेंद्र राय चौधरी लिखते हैं कि "शंकरदेव कालीन (1449-1548 ई.) असम में किसी एक सबल केंद्रीय सत्ता का अभाव था। मार-काट, छीना-झपटी, हत्या-लूट के कारण सामान्य जनता का जीवन असुरक्षित था"⁵। शेष भारत में भी

स्थिति ऐसी ही है, इसका उदाहरण हम तुलसीदास की कवितावली में देख सकते हैं। एक तो पूर्वोत्तर वज्रयानियों की तंत्र साधना से त्रस्त था दूसरे वहाँ की सत्ता भी अस्थिर थी। ऐसे समय में शंकरदेव वैष्णव मत का प्रचार करते हैं। आज भी बंगाल, असम आदि पूरब में मांसाहार सामान्य बात है, जो वाममार्गी साधना का ही प्रभाव है। असम क्षेत्र को इन तांत्रिकों की प्रभावी गिरफ्त से मुक्त कराने का सार्थक प्रयास शंकरदेव ने किया, लेकिन उन्हें इतिहास में वह सम्मान नहीं मिला जिसके वह हकदार थे। आज यदि पूर्वोत्तर में वैष्णव धर्म पुष्पित पल्लवित है तो केवल शंकरदेव के उस बीजवपन के कारण। दिल्ली की गद्दी पर बैठे वामपंथियों के पुरखे तांत्रिकों से कहीं अधिक शोषक थे। तांत्रिक तो स्त्री शोषण के मामले में मुगलों के सामने कुछ भी नहीं। जिन्हें हमारे इतिहासकार सहिष्णु बताते हुए नहीं थकते। उस अकबर के विषय में उदयभानु सिंह लिखते हैं कि "अकबर के अन्तःपुर में 5000 और जहाँगीर के हरम में 3000 युवतियाँ एकत्र की गयी थीं।"⁶ यह स्त्रियाँ सातवें आसमान से तो उतरी नहीं थी? यह तो भारत की बेटियाँ थी जिन पर विचार करने की जहमत कोई इतिहासकार नहीं उठाता। उठाए भी क्यों ! उसे तो अपने हुक्मरान के कीच पर मिट्टी डालने से फुरसत नहीं है।

मध्यकाल में किसानों की स्थिति क्या ही बताई जाए, बेटियाँ असुरक्षित, भूमि असुरक्षित, संसाधनों का अभाव इत्यादि समस्याओं के अलावा उनके पास क्या था। ऊपर से यदि 'कर' देने में चूक हुई तो कठोर दंड यह बात तो इरफान हबीब भी मानते हैं (साम्यवादी विवशता है)। वह लिखते हैं, "कर के भुगतान से मना करने का अंतिम दंड अत्यंत कठोर होता था।"⁷ इतना कहने के बाद भी इरफान हबीब अंग्रेज इतिहासकारों को कोसते हैं कि उन्होंने खुद को मुगलों के बरक्स अंग्रेजी हुकूमत को अधिक सहिष्णु कहा है। वह लिखते हैं कि 'ब्रिटिश इतिहासकारों का घोषित लक्ष्य यह दिखाना था कि उनके पहले की सरकारें निरंकुश, असहिष्णु तथा दानवी रूप से क्रूर थीं' "भारतीय जनता का विजित होना उनकी नियति थी। उन्हें खुश होना चाहिए कि उनके अंतिम विजेता बहुत ही न्यायप्रिय और दयालु रहे हैं।"⁸ हबीब यह जुमला कहते हैं कि 'ब्रिटिश इतिहासकारों का घोषित लक्ष्य यह दिखाना था' तब यह सवाल उठता है कि इन जनाब का घोषित, अघोषित लक्ष्य क्या है? 'पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है', मतलब आप साबित क्या करना चाहते जब इरफान हैं कि इतिहासकार पहले से तय लक्ष्य के आधार पर इतिहास लिखते हैं? यदि ऐसा है तब, क्या आप ऐसा नहीं करते? इस पर भी विचार होना चाहिए। इतिहास ऐसे विरोधाभास से भरा पड़ा है, लेकिन कौन इन बातों पर विचार करे? यदि इन बातों पर कोई ध्यान खींचना भी चाहे तो वह अज्ञानी, अल्पबुद्धि आदि शब्दों का खिताब स्वीकार करे। ऐसे ही दोहरे चरित्र के कारण विद्वानों ने पूर्वोत्तर को भारत से अलग-थलग करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कभी चीन परस्ती में तो कभी आदिवासी अस्मिता की राजनीति के नाम पर। चिकन नेक को काटकर अलग करने की जो सोच है वह आज उजागर हो गयी है। यह सोच नई नहीं है बल्कि अब भारत में जब पूर्वोत्तर को लेकर चेतना आ रही है तो इन छद्म चेहरों का नकाब उतर रहा है, उनकी कुंठा उजागर हो रही है। बड़े-बड़े एनजीओ बनाकर उनके नाम पर जो प्रोपोगेंडा चलाया जा रहा था वह सब उजागर हो रहा है। जो पूर्वोत्तर हमारे महाकाव्यों में स्थान रखता है, हमारे पुराणों में वर्णित है उसे ही हमसे बिल्कुल भिन्न बताया जाता है। फारवर्ड प्रेस वाले तो भरपूर जहर उगलते हैं, उनका एक आलेख जो उनके पोर्टल पर है "पूर्वोत्तर भारत : एक और जन्मभूमि, एक

और 'राम' मिजोराम !"⁹ जरूर पढ़ना चाहिए। इस आलेख से बहुत सी बातें पता चलती हैं जो अनचाहे ही उजागर हो गयी हैं। इन तमाम विद्वेषयुक्त कोशिशों के बाद भी जो एक रचनाकार पूर्वतर को भारत से जोड़े रखता है वह शंकरदेव हैं। शंकरदेव केवल असम के जातीय रचनाकार का गौरव ही नहीं रखते, बल्कि समग्र भारत के साहित्य को गौरव प्रदान करते हैं। एक रचनाकार के रूप में आपकी संवेदना और उसकी प्रामाणिकता कैसी होनी चाहिए, यह भी शंकरदेव से सीखा जा सकता है। सन्यास लेकर वह किसी मठ में नहीं बैठ जाते बल्कि प्रवास पर निकलते हैं। प्रवास भी तब चुनते हैं जब अपने दायित्वों से मुक्त हो जाते हैं। इस संदर्भ में भूपेंद्र राय चौधरी लिखते हैं कि "वे उस समय तक वैराग्य नहीं स्वीकारते हैं, जब तक मनु (पुत्री) का विवाह नहीं करा लेते हैं"¹⁰ सन्यास लेकर जब वह निकलते हैं तो इस भावना के साथ कि कुछ अनुभव प्राप्त किये जायें। भारत भ्रमण की अभिलाषा केवल मनोरंजन हेतु नहीं हैं, वह भी उस समय में जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल थी। शास्त्र का ज्ञान तो उन्हें पहले से था, लोक का अनुभव लोक से प्राप्त करने हेतु वह भारत भ्रमण करते हैं। भारत के विस्तृत भू-भाग से बहुत से अनुभव अपनी झोली में रखकर लाते हैं। वह झोली जब खुलती है तो रचनाओं का सहज उच्छलन होता है।

आज जब राष्ट्रभाव की मशाल धधक रही है तब पूर्वतर से सांस्कृतिक जुड़ाव दिखाने का सबसे सशक्त माध्यम शंकरदेव ही हैं। वर्तमान समय में यदि कोई शोधार्थी पूर्वतर में रामकथा की तलाश करता है तो शंकरदेव ही वह प्रस्थान बिंदु होते हैं जिनसे होकर अध्येता 'साबिन-आलुन' और 'लिक्व्याड लामाड' तक पहुंचता है। सुदूर मिजोरम की भूमि में राम को तलाश पाता है। यदि शंकरदेव ने रामकथा पर स्नेह न दिखाया होता तो यह सम्भव होना मुश्किल था। तब यह जरूर संभव होता कि विखंडनवादी ताकतों को शक्ति मिल जाती। आज हम मिजो भाषा के 'राम' अर्थात् भूमि को वैदिक साहित्य की सीता से यदि जोड़ पाते हैं तो कहीं-न-कहीं इस समन्वय में योगदान शंकरदेव का ही है। आज जब कोई मुह उठाए यह तर्क रखता है कि पूर्वतर और भारत केवल सीमा विस्तार के कारण एक हैं, उनमें कोई सांस्कृतिक समानता नहीं है तब शंकरदेव ही वह आप्त प्रमाण बनते हैं जिसके सामने कुतर्क नहीं टिक सकता। यह जो 'असुर' से 'अहुर' और 'अहुर' से 'अहीर' वाले छद्म बुद्धिजीवी हैं उनके लिए शंकरदेव एक मजबूत लाठी हैं। ऐसी लाठी जो उनके हाथ में नहीं है बस सामने है। शंकरदेव का रचनाक्षेत्र विस्तृत है, नाटक, काव्य, चित्र, नृत्य आदि कलाओं के साथ दर्शन, इतिहास जैसे क्षेत्र में भी इनका हस्तक्षेप है। समाज के प्रति जो इनका दायित्व बोध है और परिष्कार की भावना है उसे तो नकारा ही नहीं जा सकता। अध्येताओं को इन्हें साहित्य के सीमित दायरे में ही नहीं देखना चाहिए। जिस तरह से साहित्य में शंकरदेव पर शोधकार्य हो रहे हैं उस तरह से या और भी गंभीरता से मानविकी के अन्य अनुशासनों में भी उन पर शोध होना चाहिए। एक भक्त जिसके प्रभाव से समाज और साहित्य दोनों ही सम्मानित होते हैं उसके सम्बंध में अध्ययन तो गर्व का विषय होना चाहिए। इतिहास के शोधार्थियों को इस पर विचार करना चाहिए कि आखिर वह कौन से कारक हैं जो एक महापुरुष को यथोचित स्थान नहीं देते। समाजशास्त्रियों को भी पूर्वतर और असम के वैष्णव समाज पर निगाह करनी चाहिए तथा उस समाज के इस स्वरूप पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जो समाज एक समय में वाममार्गी साधना का केंद्र बनकर रह गया था उस समाज में जो परिवर्तन हुआ वह भी अध्ययन योग्य है। इतिहास और समाजशास्त्र के अध्येताओं को गम्भीरता से

इसपर विचार करना चाहिए। शंकरदेव भारत की संत परंपरा के मजबूत स्तम्भ हैं, वही बह सेतु हैं जो भारत की सांस्कृतिक एकात्मता को पूर्वोत्तर से जोड़े हुए हैं। इससे पहले की वह वामपंथी कुटिलता के शिकार बनें, राष्ट्रवादियों का यह दायित्व है कि उन्हें उनका यथोचित सम्मान व स्थान दिया जाए।

सन्दर्भ:-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण - द्वितीय, 1990, पृष्ठ संख्या- 131
2. भूपेंद्र राय चौधरी, शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि, भारतीय संस्कृति परिषद, गुवाहाटी 781006, असम, प्रथम संस्करण, 1997, पृष्ठ - 3
3. तुलसीदास, कवितावली, पद संख्या, 7/57, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत्, 2069, पृष्ठ संख्या - 97
4. गजानन माधव मुक्तिबोध, बीसवीं सदी में जनकला सिद्धांत और सृजन, सम्पादित - शहला हाशमी ग्रेवाल, अशोक तिवारी, जन नाट्य मंच, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृष्ठ संख्या - 274
5. भूपेंद्र राय चौधरी, शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि, भारतीय संस्कृति परिषद, गुवाहाटी 781006, असम, संस्करण, 1997, पृष्ठ संख्या - 9
6. उदयभानु सिंह, तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002, पृष्ठ संख्या - 188
7. इरफान हबीब, भारतीय इतिहास में मध्यकाल, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2002, पृष्ठ संख्या - 50
8. वही, पृष्ठ संख्या, 49
9. जितेंद्र भाटिया, पूर्वोत्तर भारत : एक और जन्मभूमि, एक और राम मिजोराम, फारवर्ड प्रेस, मई 2019 अंक (ऑनलाइन उपलब्ध)
10. भूपेंद्र राय चौधरी, शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि, भारतीय संस्कृति परिषद, गुवाहाटी 781006, असम, संस्करण, 1997, पृष्ठ संख्या - 2

ई. मेल -vibhawtripathi15@gmail.com